# राजेंद्र यादव

## एक विरल पराक्रम

फ़ोटो : भारत तिवारी

**अर्चना वर्मा**

राजेंद्र यादव (28 अगस्त, 1929–29 अक्टूबर, 2013) की अचानक अप्रत्याशित अनुपस्थिति का धक्का हिंदी के साहित्य-समाचार-विमर्श जगत द्वारा अभी तक महसूस किया जा रहा है। इस दुनिया में उनकी उपस्थिति ने ऐसी हैसियत अख़्तियार कर ली थी कि इस एहसास के ख़त्म होने में अभी देर लगेगी और उनके न होने का ध्यान बेतरह आता रहेगा।

ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे मरणोपरांत उद्‌गारों के सामान्यतः प्रशस्तिपूर्ण अतिरेक से अलग और संतुलन के विवेक से चालित हैं। हिंदी में यह एक नया सूत्रपात है और इसका भी श्रेय कमोबेश राजेंद्र यादव को ही दिया जा सकता है। समकालीनों के संस्मरणों और विश्लेषणों की उनकी किताब *वे देवता नहीं हैं* की भूमिका का शीर्षक है 'नहीं, ये श्रद्धांजलियाँ नहीं हैं' जिसमें वे अपने ठेठ राजेंद्री अंदाज़ में कहते हैं, 'हम सब अव्वल दर्जे की हिप्पोक्रेट कौम हैं। सच न सुनना चाहते हैं, न कहना। किसी के बारे में दुनिया भर का झूठ उस समय बोलते हैं जब वह जवाब दे सकने की स्थिति में नहीं होता। यानी पैदा होते ही नवजात के बारे में ऐसी ऐसी बातें कहेंगे/लिखेंगे मानो भगवान का एकमात्र अवतार वही होने जा रहा हो, मरने के बाद तो वह भगवान होता ही है। एक नम्बर का झूठा, बेईमान, हरामी, हत्यारा मरते ही महान् आत्मा हो जाता है, 'केवल निन्यानवे वर्ष की कच्ची

उम्र में' उसके 'असामयिक और आकस्मिक निधन' और 'अपूरणीय क्षति' पर आठ-आठ आँसू रोये जाते हैं, शोक-संतप्त परिवार को बिलखने के लिए अपने कंधे पेश किये जाते हैं। काश, वह दिवंगत उठ कर कह पाता कि अबे उल्लू के पट्ठे, ये सब क्या बकवास किये जा रहे हो ? मैं वह सब बिल्कुल नहीं था जिसे सिद्ध करने के लिए तुम सब ख़ून-पसीना एक कर रहे हो। मैं भी तुम्हारी ही तरह हाड़-मांस का इनसान था।'

हाड़-मांस का वही इनसान और न केवल उसकी बेईमानियाँ, टुच्चापन, अहं, झूठ, प्रतिशोध, तिकड़म, हिसाबीपन वगैरह-वगैरह बल्कि ऐसी सारी दुर्बलताओं, विफलताओं से उबरने की अनिच्छा बल्कि शायद उसे ताक़त की तरह देखने की मंशा भी राजेंद्र यादव और उनके दौर की कहानी का यथार्थ के साथ रिश्ता तय करती है एक निर्मम, पारदर्शी परिप्रेक्ष्य के साथ यथार्थ जैसा कि राजेंद्र यादव का यह उद्धरण।

अज्ञेय, जैनेंद्र, यशपाल, अमृतलाल नागर और भगवतीचरण वर्मा वाली पीढ़ी प्रेमचंद और राजेंद्र यादव के बीच एक फ़ासला खड़ा करती है। एक दूसरे से भिन्न होने के बावजूद इन लेखकों की परम्पराओं को अगली पीढ़ी समान रूप से विरासत की तरह अर्जित करती है और उनके अलग-अलग सूत्र एक दूसरे में गूँथे जाते हैं। राजेंद्र यादव और उनके साथियों, समकालीनों की संवेदना से संघटित होकर नयी कहानी नये परिप्रेक्ष्य में यथार्थ के साथ बदले हुए रिश्ते की अभिव्यक्ति बनती है। फ़ासले के बावजूद *हंस* के पुन:प्रकाशन से प्रेमचंद की परम्परा के विकास, विस्तार, मोड़ और बदलाव पर दावा राजेंद्र यादव का ही है; बावजूद इसके कि इस *हंस* को प्रेमचंद की परम्परा मानने से इंकार करने वाले भी बहुतेरे हैं। कारण एक तो यह कि *हंस* के पुन:प्रकाशन का जिम्मा उठाया ही उन्होंने। ऐसा कोई भी दावा एक व्यावहारिक परियोजना और उसकी कार्यान्विति का बीड़ा उठाए बिना सम्भव ही नहीं है। दूसरे, और ज़्यादा ज़रूरी भी, यह कि परम्परा को मोड़ कर और तोड़ कर ही वस्तुत: उसका विकास और कायाकल्प सम्भव होता है अन्यथा पीढ़ियाँ बदलती हैं, परम्परा वहीं की वहीं खड़ी जड़ और रूढ़ होती रहती है। और तब परम्परा भी वस्तुत: परम्परा नहीं रह जाती।

राजेंद्र यादव और उनके साथी समकालीन अन्य लेखक आज़ाद हिंदुस्तान की दहलीज पर तैयार खड़ी नौजवान पीढ़ी के उस वाले समुदाय का अंग हैं जो स्वाधीनता-संग्राम के मोहाविष्ट आदर्श-जगत से उच्छिन्न होते हुए संसार में जन्मा है। उसकी मानसिकता बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे-पाँचवें दशक में विश्वव्यापी निराशा और मोहभंग में संरचित हुई है।

राजेंद्र यादव और उनके साथी समकालीन अन्य लेखक आज़ाद हिंदुस्तान की दहलीज़ पर तैयार खड़ी नौजवान पीढ़ी के उस वाले समुदाय का अंग हैं जो स्वाधीनता-संग्राम के मोहाविष्ट आदर्श-जगत से उच्छिन्न होते हुए संसार में जन्मा है। उसकी मानसिकता बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे-पाँचवें दशक में विश्वव्यापी निराशा और मोहभंग में संरचित हुई है। इस पीढ़ी तक पहुँचने के पहले साहित्य जगत की वैचारिक पृष्ठभूमि में बहुत कुछ घटित हो चुका है। परम्परासम्मत तर्क और विवेक की ज़मीन पर खड़े होकर लोहा लेने वाले आख़िरी मोर्चे छायावाद के घुटने टेके जा चुके हैं। परम्परा से एकबारगी उखड़ कर प्रगतिवादी 'वर्ग-दृष्टि' की क़लम लगाने की और 'वर्ग-चरित्र' में मनुष्य के वर्गीकरण की कोशिश भी अपनी सीमाएँ प्रकट कर चुकी है। यह समझ और सजगता आ चुकी है कि वर्ग-दृष्टि बनाम रचना-दृष्टि के मामले में वहाँ वर्ग ही वर्ग दिखाई देता रह जाता है, यानी चौखट्टे ही चौखट्टे, मनुष्य और उसका चरित्र ग़ायब हो जाता है। दूसरे सिरे पर थोड़ा बहुत, पकड़ के लगभग

बाहर, अबूझ और अधूरा सा फ्रॉयड भी जहाँ-तहाँ मौजूद सा मिलता है।

दूसरे कुछ समुदाय और दूसरी कुछ धाराएँ भी मौजूद हैं, लेकिन साहित्यजगत में बहुत मुखर या प्रबल नहीं। स्वाधीनता के लिए संघर्ष का मक़सद सामने से हट चुका है, उस ख़ाली जगह को भरने वाला कोई दूसरा मक़सद अभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ है। दहलीज पर खड़ी आज़ाद, नौजवान पीढ़ी के इस समुदाय के लिए विचार, दर्शन, रणनीति, भविष्य की संरचना, आगामी का नक़्शा सब-कुछ एक भिन्न विवेक और नये तर्क के सहारे गढ़ा जाना है। उसकी मंशा में नयी शुरुआत अतीत के साथ सम्पूर्ण विच्छेद से होनी है। नयी कहानी की सैद्धांतिक संरचना में योगदानों के सापेक्षिक महत्त्व को देखते हुए राजेंद्र यादव की अगुआई और मोहन राकेश और कमलेश्वर के सहयोग से संवेदना को व्यक्तिपरक सामाजिकता और समाजपरक वैयक्तिकता के तरह-तरह के समीकरणों में संघटित किया जाता है, 'जिये हुए' और 'भोगे हुए' की गवाही से घटना और पात्र सत्यापित किये जाते हैं, अनुभूति की प्रामाणिकता का आग्रह स्थापित किया जाता है, आदर्श और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के प्रति अ-श्रद्धा के दौर का सूत्रपात होता है, तथाकथित आस्था, एकनिष्ठता, समर्पण आदि के परख़चे उड़ते हैं, और स्वाभाविक ही, क्योंकि बुनियादी आग्रह प्रामाणिकता का है और प्रामाणिकता 'जिये' और 'भोगे' द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है। नयी कहानी की शुरुआत यानी 1950 तक पहुँचते-पहुँचते द्वितीय विश्वयुद्ध के साथ दुनिया का आमना-सामना आधुनिकता के उपक्रम के नतीजों की ध्वंसमयी कोटि के साथ हो चुका है। बीसवीं सदी का उत्तरार्ध है और नयी कहानी की हमारी यह नौजवान पीढ़ी गाँवों और क़स्बों से उखड़ कर नगरों और महानगरों की दिशा में प्रस्थान करती, यंत्रयुग की चपेट में अजनबी की हैसियत, और 'अकेलेपन', 'अपरिचय', 'संत्रास' और 'ध्वंस' की अनुभूति की भाषा बोलती सुनाई देती है। भारतीय परिदृश्य पर इस यथार्थ के नये इजाफ़े का साक्ष्य नयी कहानी में है जिसकी पहचान, प्रामाण्य और रेखांकन में पहला हाथ नयी कहानी के पुरोधाओं का है। उनमें भी राजेंद्र यादव विशेषत:, अपने विचार को उसकी तार्किक संगति की आख़िरी हद के पार तक ले जा सकने की क्षमता से लैस दिखाई देते हैं। राजेंद्र यादव से ही शब्द उधार लें तो यह 'कैंड़े' के आदमी का काम है; गुर्दा चाहिए। दूसरे शब्दों में कहें तो यह एक विरल पराक्रम है।

नयी कहानी की हमारी यह नौजवान पीढ़ी गाँवों और क़स्बों से उखड़ कर नगरों और महानगरों की दिशा में प्रस्थान करती, यंत्रयुग की चपेट में अजनबी की हैसियत, और 'अकेलेपन', 'अपरिचय', 'संत्रास' और 'ध्वंस' की अनुभूति की भाषा बोलती सुनाई देती है। भारतीय परिदृश्य पर इस यथार्थ के नये इजाफ़े का साक्ष्य नयी कहानी में है जिसकी पहचान, प्रामाण्य और रेखांकन में पहला हाथ नयी कहानी के पुरोधाओं का है। उनमें भी राजेंद्र यादव विशेषत:, अपने विचार को उसकी तार्किक संगति की आख़िरी हद के पार तक ले जा सकने की क्षमता से लैस दिखाई देते हैं। राजेंद्र यादव से ही शब्द उधार लें तो यह 'कैंड़े' के आदमी का काम है; गुर्दा चाहिए। दूसरे शब्दों में कहें तो यह एक विरल पराक्रम है।

नयी कहानी आंदोलन का बुनियादी विचार परिवार का बदलता हुआ ढाँचा और स्त्री है। पढ़ी-लिखी, उपार्जन-क्षम, वैयक्तिकता-सम्पन्न स्वतंत्र स्त्री। इसके पहले तक चौखट के बाहर आयी स्त्री के साथ सम्पर्क में स्वाधीनता संग्राम में सहयोग की आड़ थी और अगली पीढ़ी के उपयुक्त पालन-पोषण की योग्यता के अर्जन के लिए शिक्षा-सामाजिक पुनर्निर्माण आदि का आच्छादन था। नयी स्त्री के साथ इन आच्छादनों के बाहर पहला सीधा साबका इसी पीढ़ी का पड़ा और कहा जा सकता है कि

वह अप्रस्तुत ही, अचानक और भौचक, पकड़ी गयी। जितनी शिद्दत से प्रेमचंद को संयुक्त परिवार की संस्था की रक्षा में विकल और सन्नद्ध पाया गया था उतनी ही विकलता से यहाँ उभरते हुए इकाई परिवारों में पितृसत्ता की पराधीन स्त्री के लिए करुणा किंतु उसके अलावा स्त्री का आहत अभिमान, उसकी नयी भूमिकाओं का आविष्कार और निर्धारण, पुरुष का कातर अहं, स्त्री-पुरुष के अहंकारों की टकराहट, तनावग्रस्त दाम्पत्य, विवाहेतर प्रेम, टूटते संबंध, बिखरते परिवार, और इनके माध्यम से सामंती संरचनाओं और मूल्यों के विघटन की छानबीन की गयी है।

राजेंद्र यादव की रचना की जो केंद्रीय चिंता उनके कथाकाल से शुरू होकर विमर्शकाल तक भी आती है, वह यही है कि हमारे समाज ने नैतिकता, सच्चरित्रता, पवित्रता की समूची नापजोख स्त्री-यौनिकता के पैमाने में सिकोड़ कर ठूँस दी है और उसे सतीत्व का नाम दे दिया है। यही स्त्री के दमित अस्तित्व और अवदमित अस्मिता की कील भी है और तमाम नैतिक पाखण्डों की सामाजिक धुरी भी। अपने कैंड़े के चलते वे इस चिंता को भी उसकी तार्किक संगतियों की आख़िरी हदों तक ले जा सके और अपने विमर्श-काल में दलित-विमर्श के अलावा स्त्री-अस्मिता को लेकर जिस विमर्श की शुरुआत की उसके सारांश को देखा जाय तो उसे दमित और अवदमित विमर्श के खाते में रखा जा सकता है। अपने इस दुस्साहस/पराक्रम के ख़िलाफ़ उन्हें एक उग्र मोर्चे का सामना भी करते रहना पड़ा।

ख़ुद उनके विश्लेषण के अनुसार थके हुए मध्यवर्ग के चुके हुए सपने और न लिखने का कारण के बीच एक मक़सद खोज निकालने की प्रक्रिया। जिस मध्यवर्ग को वे इस तरह थका-चुका घोषित कर रहे थे, उनके इस फ़ैसले में वही मध्यवर्गीय मानसिकता शायद फ़ुलटाइम काम पर थी जिसमें सामाजिक दायित्वबोध अक्सर एक अपराधभाव का रूप ग्रहण कर लेता है।

अपनी रचनात्मकता के पहले दौर में वे मोहन राकेश और कमलेश्वर के साथ नयी कहानी आंदोलन के माध्यम से कथा-साहित्य के नये मोड़ को रेखांकित करने वाले और उस नये रास्ते को अंत तक ले जाने वाले त्रिगुट के सदस्य रहे। तीनों ही कमोबेश अपनी-अपनी तरह से नयी कहानी के सिद्धांतकार भी बने लेकिन नये यथार्थ की पहचान और परिभाषा में राजेंद्र यादव की हिस्सेदारी सबसे ज़्यादा सबल कही जा सकती है—तर्क की दृष्टि से भी और लेखन-राशि की दृष्टि से भी।

उनके अनेकायामी कृतित्व में कहानी, कविता, संस्मरण, आलोचना, सम्पादन, विमर्श, अनुवाद वगैरह सब शामिल है, लेकिन उनकी आकस्मिक अनुपस्थिति के धक्के से परिभाषित इस क्षण में फ़िलहाल *हंस* के सम्पादकीय और उनके माध्यम से स्त्री, दलित और अल्पसंख्यक विमर्श सबसे ऊपर उतराते दिखाई देते हैं। तय करना मुश्किल है कि राजेंद्र यादव वस्तुतः हिंदी साहित्य में कथाकार की हैसियत से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण आसन के अधिकारी होंगे या विमर्शकार की हैसियत से।

खुद राजेंद्र यादव की अपनी मंशा को देखें तो विमर्शकार।

*हंस* के ज़रिये इन विमर्शों को एक खुला मंच देने का फ़ैसला करने के बाद उन्होंने कितनी ही बार मंच से, साक्षात्कारों में, सम्पादकीयों में 'कन्फ़ेशन' की मुद्रा में दोहराया था कि उनके लिए यह जीवन की सार्थकता के पुनः अर्जन की प्रक्रिया थी। उनका यह फ़ैसला एक सृजन-हारा स्रष्टा के निरर्थकताबोध और हताशा में से निकला था— ख़ुद उनके विश्लेषण के अनुसार थके हुए मध्यवर्ग के चुके हुए सपने और न लिखने का कारण के बीच एक मक़सद खोज निकालने की प्रक्रिया। जिस मध्यवर्ग को वे इस तरह थका-चुका घोषित कर रहे थे, उनके इस फ़ैसले में वही मध्यवर्गीय मानसिकता शायद फ़ुलटाइम काम पर थी जिसमें सामाजिक दायित्वबोध अक्सर एक अपराधभाव का रूप ग्रहण कर लेता है।

फ़ोटो : भारत तिवारी

अगले एक-डेढ़ दशक में नयी कहानी की परियोजना ख़ुद को पूरा करके एक अंधी गली में जा पहुँची थी। कुछ तो इसलिए कि अपने चरम पर पहुँच कर वह अपने चुने हुए क्षेत्र की रचनात्मक संभावनाओं को शेष कर चुकी थी और कुछ इसलिए भी कि इन आगामी वर्षों में परिवार के ध्वंस और स्त्री के नये स्वाधीन व्यक्तित्व की यह विषयवस्तु समाज के कुछ इलाक़ों में आमफ़हम और कुछ इलाक़ों में अस्वीकृत घोषित हो चुकी थी। दोनों में से किसी भी हालत में रचनाकार के पास नया कुछ खोद निकालने को बाक़ी नहीं रह गया था। नयी कहानी के चरम पर रहते ही मोहन राकेश की असमय मृत्यु और कमलेश्वर के टेलीविज़न और फ़िल्मों की दिशा पकड़ लेने के बाद कहानी की अगली पीढ़ी नयी कहानी से अलग होकरअपनी दिशाओं का संधान कर रही थी। राजेंद्र यादव के पास वह एक बहुत कठिन शून्य का और ख़ासा लम्बा समय था। कुल क़िस्सा चाहे रचनात्मक अवरोध या 'राइटर्स ब्लॉक' का रहा हो या सामग्री चुक जाने का। *टूटना* शीर्षक कहानी संग्रह 1966 में प्रकाशित हो चुका था और *मंत्रविद्ध* शीर्षक उपन्यास 1967 में। लिखना और भी पहले हो चुका होगा। ये उनके अंतिम सृजन थे। इसके बाद *चौखट्टे तोड़ते त्रिकोण, श्रेष्ठ कहानियाँ, प्रतिनिधि कहानियाँ, प्रेम कहानियाँ, चर्चित कहानियाँ, मेरी पच्चीस कहानियाँ* वगैरह पहले के रचे हुए में से विविध संकलन मात्र हैं। लगातार एक पत्रिका के सम्पादन का सपना/संकल्प/साधन की तलाश थी, योजनाएँ थीं, मनसूबे थे, सम्भाव्य स्रोत हो सकने वाले दोस्तों, परिचितों, नातों-रिश्तों के साथ अनंत बैठकें थीं। 1986 में *हंस* के प्रकाशन तक इस स्थिति में बीस साल गुज़र चुके थे। अंततः गौतम नवलखा के सहयोग से *हंस* की शुरुआत हुई, और सम्पादक की हैसियत से साहित्य-जगत में उनकी दूसरी पारी का आरंभ। और इसके बाद इतिहास।

अक्षर प्रकाशन, 2/36 अंसारी रोड, दरियागंज। 31 जुलाई, 1986 में प्रेमचंद जयंती पर राजेंद्र यादव के *हंस* के पहले अंक के लोकार्पण के बाद से ही अंसारी रोड का यह पता रचनाकारों की

अगली पीढ़ियों का उर्वर प्रदेश, नित नयी बहसों का अड्डा और हिंदी साहित्य में दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श आदि के सूत्रपात के कारण लगातार हलचलों का केंद्र बना रहा।

आज अगर प्रस्थान के बाद वे अनन्य समर्थकों और प्रचण्ड विरोधियों द्वारा एक साथ हिंदी के साहित्यजगत की नस-नस में भिदे हुए पाये जा रहे हैं तो अग्रवत्ता में उनका सम्पादक अवतार है। *हंस* के सत्ताईस सालों में शायद कभी एकाध बार संयुक्तांक निकला हो, अन्यथा हर साल के बारह अंक। हर अंक में एक सम्पादकीय। 'काँटे की बात' शृंखला में इन सम्पादकीयों के वार्षिक संकलन प्रकाशित होते रहे हैं। इनमें कुछ सम्पादकीय अज्ञेय, जैनेंद्र, मोहन राकेश आदि विशिष्ट व्यक्तियों के संस्मरण-विश्लेषण-अंजली से जुड़े हुए हैं, कुछ रचनाओं और विचारों के विश्लेषण से। कुछ रचनात्मकता के सवालों से उलझते-सुलझते हुए। इन सम्पादकीयों में राजेंद्र यादव की बहुमूल्य अंतर्दृष्टियाँ सुरक्षित हैं। इनके अलावा इतिहास, समाज और राजनीति के विश्लेषण और विमर्श-केंद्रित उनके संख्याबहुल सम्पादकीय भी हैं। *हंस* के ये सम्पादकीय वे हैं जिनकी मूल्यवत्ता उतनी असंदिग्ध नहीं। निस्संदेह *हंस* के सम्पादकीय की सर्वाधिक पठित और लोकप्रिय स्तंभ की हैसियत में इनकी गिनती भी शामिल है और सामान्य पाठक के लिए आप्त (राजेंद्र)-वाक्य-प्रमाण के न्याय से शायद उनकी प्रामाणिकता भी असंदिग्ध हो लेकिन वह कोई सनद नहीं। उनके मित्रों, (परिचितों, परिवारियों और विद्वानों में जो इतिहास, राजनीति और समाजशास्त्र के जानकार हैं वे इन सम्पादकीयों के प्रति असहिष्णु (क्षुब्ध और अधीर) हो कर रह जाते थे। लेकिन राजेंद्र यादव को यह असहमति शायद किसी जलते हुए सच के बयान का प्रमाण लगती रही हो जिसके साथ इतनी प्रचण्ड असहमति उसकी ज्वलंतता का ही प्रमाण है। कई बार ऐसा होता भी था लेकिन कई बार केवल उनकी रचनात्मक अंतर्दृष्टि की सूझ ही तथ्यों का स्थानापन्न बनने को पर्याप्त नहीं हो पाती थी लेकिन उनके संदर्भ में भी राजेंद्र यादव का यह अंतरंग आश्वस्त भाव उतना ही अप्रतिहत, अविचलित बना रहता था। रचनात्मक अंतर्दृष्टि का यह अंतरंग स्वभाव है— तथ्यों, प्रमाणों के अभाव में अप्रामाणिक होकर भी कहने वाले को लगता है कि वह अपने विश्वास की कीमत चुका रहा है; भले ही अंतिम सत्यापन में वह बात ग़लत ही क्यों न साबित होने वाली हो।

लेकिन अंततः जैसे भी वे इस अहसास तक पहुँचे हों, *कथादेश* के 'कल्प कल्प का गल्प' विशेषांक में अतिथि सम्पादक आशुतोष भारद्वाज के साथ साक्षात्कार के दौरान उन्होंने यह स्वीकारोक्ति भी की। कहा था कि जितना कुछ मैं महसूस करता था उसे कह पाने लायक तैयारी मेरी नहीं थी। न उस क़िस्म की पढ़ाई, न वैसा फ़ील्डवर्क, न उसकी कोई सम्भावना। लेकिन जो उन्होंने करना चाहा, जैसा महसूस किया, जैसा बन पड़ा वैसा अंत तक करते रहे। जिस सम्बद्धता, लगाव, मक़सद की तलाश थी, उसका मूल्यवान अहसास भी उस करने के साथ जुड़ा।

दर्जनों मूल्यवान रचनाएँ, दर्जनों युवा रचनाकारों का प्रथम परिचय, दर्जनों मूल्यवान प्रश्न और विवाद, दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श और अन्य भी तरह-तरह के विमर्श, दूसरी परम्परा की तलाश के कभी सफल कभी विफल उपक्रम— इन सबके साथ राजेंद्र यादव की व्यक्तिगत सार्थकता के अर्जन के अलावा हिंदी साहित्य में इन इज़ाफ़ों की मूल्यवत्ता भी जुड़ी है। ये बेशक उनके उपक्रम के बड़े नतीजे हैं जो हिंदी साहित्य के इतिहास में उनकी जगह निश्चित करते हैं, लेकिन नयी कहानी के प्रवक्ता, पुरोधा रचनाकार के रूप में उनका मौलिक सृजन इससे ख़ारिज नहीं हो जाता, बल्कि नितांत निजी मौलिकता के स्तर पर सर्वाधिक मूल्यवान भी ठहरता है— भले ही वे हाल के वर्षों में उसे निरंतर अपवारित करते चले आ रहे थे।